पंचविध ध्यान-पद्धति : स्वरूप, विश्लेषण

☐ महासती श्री उमरावकुंवर 'अर्चना'

अपने अध्ययन, अनुशीलन एवं अनुभूति के परिणाम-स्वरूप ध्यानाभ्यास की दृष्टि से सर्वसाधारण के लाभ हेतु एक सरलतम ध्यान-पद्धति प्रस्तुत करने का मेरा प्रयास रहा है। प्रार्थना, योगमुद्रा, दीपकमुद्रा, वीतरागमुद्रा तथा आनन्दमुद्रा के रूप में उसकी पांच विधाएँ हैं। यह ध्यानपद्धति योगाभ्यास में अभिरुचि रखने वाले भाई-बहिनों के लिए बड़ी उपयोगी एवं लाभप्रद सिद्ध हुई है। इसके सहारे साधक भाई-बहिनों ने ध्यान के अभ्यास में स्पृहणीय प्रगति की है।

प्रस्तुत ध्यान-पद्धति की पाँच विधाएँ इस प्रकार हैं—

१. प्रार्थना

श्रद्धा जीवन की दिव्यता का निदर्शन है। श्रद्धा में अहंकार-विसर्जन तथा स्वरूप-सर्जन का दिशाबोध है। वह अन्तःपरिष्कार की प्रक्रिया है। प्रार्थना श्रद्धा-प्रसूत है, श्रद्धा-वर्धक भी। प्रार्थना में अर्थना के साथ जुड़ा "प्र" उपसर्ग अर्थना, चाह या मांग में एक वैशिष्ट्य का समावेश करता है। वह वैशिष्ट्य पुरुषार्थ-जागरण का संदेश है। रागद्वेषातीत, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परमात्मा, परम पुरुष या परब्रह्म का आदर्श प्रार्थी के समक्ष है। प्रार्थी प्रार्थना, जो अन्तःप्रेरणा संजोने का रहस्यमय अर्थ लिये है, करता हुआ बहिरात्मभाव से अन्तरात्मभाव तथा अन्तरात्मभाव से परमात्मभाव की उपलब्धि के लिए उद्यम करता है, जो बड़ा सूक्ष्म होता है, तलावगाही होता है।

प्रार्थनावस्था में साधक वज्रासन में स्थित हो। ध्यान रहे, वज्रासन का ही कोई दृढ़ आग्रह नहीं है। यदि साधक को अधिक आनुकूल्य हो तो वह सुखासन, कमलासन आदि किसी अन्य आसन का भी उपयोग कर सकता है। साधक के दोनों हाथ जुड़े हों। संयुक्त दोनों अंगुष्ठ नासाग्र पर लगे हों। यह काय-स्थिति भावों के अन्तःपरिणमन में प्रेरक और सहायक होती है।

आसनस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

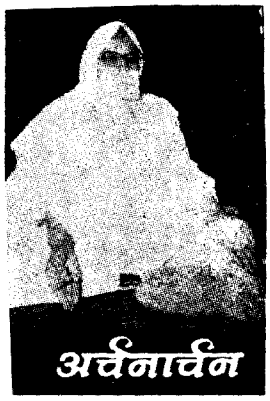

साधक शब्दानुरूप भावानुभूति का प्रयत्न करता हुआ निम्नांकित वाक्यों का उच्चारण करे—

मुझे सिद्धि की कामना है,
प्रसिद्धि की नहीं।
मुझे प्रेम चाहिए,
दया नहीं।
अपने पुरुषार्थ से प्राप्य को पाना है,
किसी की दया से नहीं।

आत्मा में समग्र, सर्वव्यापी प्रेम, विश्ववात्सल्य के उद्रेक द्वारा संकीर्ण स्वार्थ का परिहार और वीतरागभाव के स्वीकार का उत्साह इनसे ध्वनित होता है।

यह अभ्यास की प्रथम भूमिका है, जिससे साधक निर्विकार और निर्मल भावापन्न मनः-स्थिति पाने की ओर अग्रसर होता है।

२. योगमुद्रा

यह मुद्रा ध्यान-साधना की दूसरी स्थिति है। साधक पद्मासन या सुखासन में संस्थित हो। दोनों हाथों की मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठिका—तीनों अंगुलियां सीधी रहें। अंगुष्ठ और तर्जनी परस्पर संयुक्त रहें। यह काय-स्थिति एक विशेष भाव-बोध की उद्-भाविका है। तीनों सीधी अंगुलियां मानसिक शुद्धि, वाचिक शुद्धि और कायिक शुद्धि की प्रतीक हैं। जिससे आधि, व्याधि और उपाधि अपगत होती हैं। आधि मानसिक रुग्णता, वेदना या व्यथा के अर्थ में है। व्याधि का आशय दैहिक अस्वस्थता, पीड़ा या कष्ट है। उपाधि मन, वचन एवं देह की संकल्प-विकल्पापन्नता का, असन्तुलित, अस्थिर और अव्यवस्थित दशा का द्योतक है। मानव की ये बहुत बड़ी दुर्बलताएँ हैं। इन्हें पराभूत करने का अर्थ सत्य-पथ पर अग्रसर होना है। सत्य को आत्मसात् करना, उस पर सुप्रतिष्ठ होना ही वस्तुतः सम्यक्त्व है, जो आत्मोत्कर्ष का आद्य सोपान है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सांख्यदर्शन के अनुसार यह जागतिक सृष्टि त्रिगुणात्मिका है। सत्त्व, रजस् तथा तमस्—इन तीन गुणों का समवाय-सहवर्तित्व जगत् है। गुणत्रय से अतीत होने का आशय शुद्ध स्वरूप का अधिगम है। तीनों सीधी अंगुलियां त्रिगुणातीत होने को उत्प्रेरित करती हैं।

अंगुष्ठ परमात्मा, ब्रह्म, समाधि या परमधाम का प्रतीक है और तर्जनी जीवात्मा का। तर्जनी और अंगुष्ठ का संयोग जीव के ब्रह्म-सारूप्य, ब्रह्मज्ञान या आत्मा की परमात्म-भावापन्नता की ओर गतिमत्ता का सूचक है।

उपर्युक्त चिन्तन-धारा का आधार लेकर साधक बहिर्निरपेक्ष बन आत्मसापेक्ष, अन्ततः परमात्म-सापेक्ष स्थिति प्राप्त करने को तत्पर, उद्यत एवं प्रयत्नशील रहता है। उसका वह अभिक्रम बढ़ता जाता है।

३. दीपकमुद्रा

दीपक ज्योति का प्रतीक है। दीपक का अर्थ भी बड़ा सुन्दर है, जो दीप्त करे। दीपकमुद्रा में साधक सुखासन या पद्मासन में संस्थित हो अपने दोनों हाथों की मध्यमा अंगुलियों को सीधा करे, उनके सिरों को परस्पर मिलाए, अवशिष्ट अंगुलियों तथा अंगूठों को मोड़े रहे। यों दीप-ज्योति जैसा स्थूल आकार निर्मित होता है।

दीपकमुद्रा आत्मा की दिव्य ज्योति, शक्ति या ऊर्जा की प्रतीति कराती है। योगमुद्रा द्वारा उत्प्रेरित अन्तर्जगत् की यात्रा में बाह्य उपादान छूटते जाते हैं, अन्तर्जगत् की ओर साधक के कदम बढ़ते जाते हैं, साधक आत्मज्योति पर अपने को टिकाता है। इस टिकाव से पूर्वाभ्यास प्राप्त उत्कर्ष की स्थिरता सधती है।

यह बड़ी सूक्ष्म, स्फूर्त एवं ज्वलन्त चिन्तनधारा है। इस द्वारा चिन्तनक्रम पर-पराङ्मुख और स्वोन्मुख बनता है। साधक आगे बढ़ता जाता है।

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

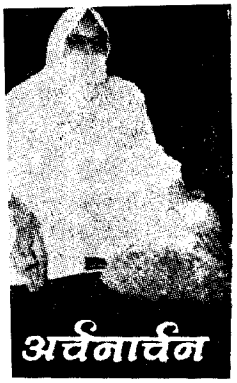

४. वीतरागमुद्रा

वीतराग वह दशा है, जहाँ साधक राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि से विरत होने की अनुभूति करता है। यद्यपि तात्त्विकदृष्ट्या तदनुरूप कर्म-क्षयात्मक स्थिति जब तक निष्पन्न नहीं होती, तब तक वह (वीतरागता) सर्वथा प्राप्त नहीं हो सकती, किन्तु तदनुरूप कर्मक्षयोन्मुख पुरुषार्थ-पुरस्कार हेतु साधक वीतरागत्व के ध्यानात्मक अभ्यास में अभिरत होता है, जो उसके लिए परम हितावह है।

इस मुद्रा में साधक प्रशान्तभाव से सुखासन में स्थित हो। बायें हाथ (हथेली) पर दायें हाथ (हथेली) को रखे। निम्नांकित श्लोक के आदर्श को दृष्टि में रखे—

रागद्वेषविजेतारं, ज्ञातारं विश्ववस्तुनः।
शक्रपूज्यं गिरामीशं, तीर्थेशं स्मृतिमानये॥

राग-द्वेषविजय, देहातीत एवं साक्षिभाव की अनुभूति इस मुद्रा का उद्दिष्ट है। जगत् के प्रति, देह के प्रति सर्वथा अनासक्त, असंपृक्त भावमूलक चिन्तन, मनन एवं निदिध्यासन आगे बढ़े, अपने शुद्ध स्वरूप की ज्ञप्ति, प्रतीति, अनुभूति सधे, इस दिशा में साधक की स्थिरतामय दशा इस मुद्रा में निष्पन्न होती है। यह अनुभूतिप्रवण दशा है, जिसे शब्दबद्ध नहीं किया जा सकता। इससे साधक निःसन्देह अपने जीवन में दिव्य शान्ति एवं समाधि-दशा का अनुभव करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. आनन्दमुद्रा

पिछली चार मुद्राओं की फल-निष्पत्ति इस पाँचवीं मुद्रा में है। प्रार्थना बीज, योगमुद्रा अंकुर, दीपकमुद्रा पादप, वीतरागमुद्रा फलोद्गम तथा आनन्दमुद्रा फल की रसानुभूति से उपमित की जा सकती है।

साधनारत आत्मा का परमात्मभाव के साक्षात्कार की दिशा में अभिवर्धनशील क्रम के अन्तर्गत ज्यों-ज्यों बहिर्भाव से पार्थक्य होता जाता है, उसकी दृष्टि स्वोन्मुख बनती जाती है, राग, द्वेष के बन्धन तड़ातड़ टूटने लगते हैं। यह सब ज्यों ही सध जाता है, अपरिसीम आनन्द की अनुभूति होती है, जो सर्वथा पर-निरपेक्ष और नितान्त स्व-सापेक्ष होता है। यह वह आनन्द है, जिसके लिए जगत् में कोई उपमान नहीं है। इस अखण्ड, अनवच्छिन्न, असीम आनन्द की अनुभूति के कुछ ही क्षण अन्तरतम में ऐसी उत्कण्ठा जगा जाते हैं, जो जीवन को एक नया मोड़ देती है, जो इस मुद्रा द्वारा गम्य है।

इस मुद्रा में आसन, काय-स्थिति आदि साधक के सहज आनुकूल्य एवं सौविध्य के अनुरूप अभीप्सित है।

□□

आसमस्थ तम
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org